अध्याय – 2
राजस्थान का स्थापत्य, मूर्तिशिल्प एवं चित्रशैलियाँ

मानव सभ्यता के विकास क्रम में जब उसमें सृजनात्मक सोच का विकास हुआ और अपने चारों ओर प्रकृति की विभिन्न कृतियों को देखा, तो उसके मन में भी कुछ रचना करने की इच्छा हुई। ऐसे मानव ने मन के भाव, छैनी, हथौड़े तथा अन्य औजारों से मूर्त रूप में प्रकट किए। भवन, महल, मन्दिर तथा मूर्ति रूपों आदि का निमार्ण किया जाने लगा। धीरे धीरे मूर्ति–शिल्प विज्ञान व वास्तु–शिल्प विज्ञान का विकास हुआ। इससे हमारी संस्कृति समृद्ध हुई।

भवन निर्माण एवं शिल्प की उत्कृष्टता के साक्ष्य राजस्थान में मानव की विकास यात्रा के साथ ही देखने को मिलते है। कालीबंगा, आहड़, गिलूण्ड, बैराठ, नोह, नगरी आदि राजस्थान के ऐसे पुरातात्विक स्थल हैं, जहाँ आवासों का निर्माण हुआ। स्थापत्य एवं रक्षा की दृष्टि से राजस्थान के ऐतिहासिक भवन, जिनका निर्माण पूर्व–मध्यकाल में हुआ, बेजोड़ थे। राजस्थान में विभिन्न स्थलों पर स्थित मध्यकालीन किले, मन्दिर, राजप्रासाद, बावड़ियाँ एवं अन्य भवन एक समन्वयात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। राजपूत संस्कृति के अभ्युदय के कारण वीरता एवं रक्षा के प्रतीक किलों का निर्माण तेजी से हुआ। इसी के साथ, भक्ति, शक्ति एवं अध्यात्म की प्रभावना के कारण मन्दिरों की स्थापना में गति आयी। यहाँ यह जान लेना उपयुक्त होगा कि राजस्थान की भवन निर्माण कला में उपयोगिता एवं समन्वयात्मकता की भावना को केन्द्र बिन्दु में रखा गया है, साथ ही शिल्प सौष्ठव, अलंकरण एवं सुरक्षा की भावना का निर्माताओं ने ध्यान रखा है। समय और सम्पन्नता के साथ वास्तुकला में उत्कृष्टता, विशालता एवं सूक्ष्मता के तत्त्वों का समावेश होने लगा। स्थापत्य का वैविध्य राजस्थान की वास्तुकला की विशेषता है। यहाँ के शासकों ने सदैव ही कला को संरक्षण एवं संवर्धन प्रदान किया है। राजस्थान में जितनी भी ऐतिहासिक इमारतें एवं सांस्कृतिक वैभव के प्रतीक शेष बचे हैं, वे इस प्रदेश की स्थापत्य की समृद्ध विरासत को कहने में सक्षम है।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को गौरवान्वित करने का श्रेय राजस्थान की वास्तुकला एवं मूर्तिशिल्प के साथ चित्रकला को भी जाता है। राजस्थान की चित्रशैलियाँ युगों के मानव श्रम का परिणाम है। वैसे हजारों वर्षों पूर्व राजस्थान के शैलाश्रयों में शैलचित्रों का रेखांकन राजस्थान की प्रारम्भिक चित्रण परम्परा को दर्शाता है। भारतीय चित्रकला की सर्वोत्कृष्ट दाय अजन्ता शैली की समृद्ध परम्परा को वहन करने वाली राजस्थानी चित्रकला के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में राजस्थान के स्थापत्य, मूर्तिशिल्प एवं चित्रशैलियों का विवेचन किया जा रहा है ताकि राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा से आप अवगत हो सकें।

दुर्ग स्थापत्य

प्राचीन लेखकों ने दुर्ग को राज्य का अनिवार्य अंग माना है। राजस्थान में दुर्ग निर्माण की परम्परा पूर्व मध्यकाल से ही देखने को मिलती है। यहाँ शायद ही कोई जनपद हो, जहाँ कोई दुर्ग या गढ़ न हो। इन दुर्गों का अपना इतिहास है। इनके आधिपत्य को लेकर कई लड़ाइयाँ भी लड़ी गई। कई बार स्थानीय स्तर पर तो यदा–कदा विदेशी सत्ता द्वारा, इन पर अधिकार करने को लेकर दीर्घ काल तक संघर्ष भी चले। युद्ध कला में दक्ष सेना के लिए दुर्ग को जीवन रेखा माना गया है। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सम्पूर्ण देश में राजस्थान वह प्रदेश है, जहाँ पर महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के बाद सर्वाधिक गढ़ ओर दुर्ग बने हुए हैं। एक गणना के अनुसार राजस्थान में 250 से

अधिक दुर्ग व गढ़ हैं। खास बात यह कि सभी किले और गढ़ अपने आप में अद्‌भुत और विलक्षण हैं। दुर्ग निर्माण में राजस्थान की स्थापत्य कला का उत्कर्ष देखा जा सकता है। प्राचीन ग्रंथों में किलों की जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे यहाँ के किलों में प्रायः देखने को मिलती हैं। सुदृढ़ प्राचीर, अभेद्य बुर्जें, किले के चारों तरफ़ गहरी खाई या परिखा, गुप्त प्रवेश द्वार तथा सुरंग, किले के भीतर सिलहरवाना (शस्त्रागार), जलाशय अथवा पानी के टांके, राजप्रासाद तथा सैनिकों के आवास गृह–यहाँ के प्रायः सभी किलों में विद्यमान है।

राजस्थान में दुर्गों का निर्माण दरअसल विभिन्न रूपों में हुआ है। कतिपय दुर्गों के प्रकार निम्न हैं–

1. **धान्वन दुर्ग :** ऐसा दुर्ग जिसके दूर–दूर तक मरु भूमि फैली हो, जैसे–जैसलमेर का किला।

2. **जल दुर्ग :** ऐसा दुर्ग जो जल राशि से घिरा हो, जैसे – गागरोन का किला।

3. **वन दुर्ग :** वह दुर्ग जो कांटेदार वृक्षों के समूह से घिरा हो, जैसे सिवाणा दुर्ग।

4. **पारिख दुर्ग :** वह दुर्ग जिसके चारों तरफ़ गहरी खाई हो, जैसे भरतपुर का लोहागढ़ दुर्ग।

5. **गिरि दुर्ग :** एकान्त में किसी ऊँची दुर्गम पहाड़ी पर स्थित दुर्ग, जैसे मेहरानगढ़, रणथम्भौर।

6. **एरण दुर्ग :** वह दुर्ग जो खाई, कांटो एवं पत्थरों के कारण दुर्गम हो, जैसे चित्तौड़ एवं जालौर दुर्ग।

उक्त दुर्गों के प्रकार के अतिरिक्त दुर्गों के अन्य प्रकार भी होते हैं। यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि कुछ दुर्ग ऐसे भी हैं, जिन्हें दो या अधिक दुर्गों के प्रकार में शामिल किया जा सकता है, जैसे चित्तौड़ के दुर्ग को गिरि दुर्ग, पारिख दुर्ग एवं एरण दुर्ग की श्रेणी में भी विद्वान रखते हैं। वैसे दुर्गों के सभी प्रकारों में सैन्य दुर्गों को श्रेष्ठ माना जाता है। ऐसे दुर्ग व्यूह रचना में चतुर वीरों की सेना के साथ अभेद्य समझे जाते थे। चित्तौड़ दुर्ग सहित राजस्थान के कई दुर्गों को 'सैन्य दुर्ग' की श्रेणी में रखा जाता है।

आचार्य कौटिल्य, शुक्र आदि ने भी दुर्गों के महत्त्व एवं वास्तुशिल्प के बारे में संक्षेप में लिखा है। शासकों को यह निर्देश दिया गया है कि वे अधिकाधिक किलों पर अपना आधिपत्य स्थापित करें। राजस्थान में किलों का स्थापत्य वास्तुशिल्पियों के मानदण्ड के अनुसार ही हुआ है। मध्यकाल में यहाँ अनेक किलों का निर्माण हुआ और दुर्ग स्थापत्य कला में एक नया मोड़ आया। किलों का निर्माण करते समय अब इस तथ्य पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा कि दुर्ग ऐसी पहाड़ियों पर बनाये जावें जो ऊँची पहाड़ियों के साथ चौड़ी हो तथा जहाँ खेती और सिंचाई के साधन हों। इसके अतिरिक्त, जो ऐसी पहाड़ियों पर प्राचीन दुर्ग बने हुए थे, उन्हें फिर से नया रूप दिया गया।

आगे के पृष्ठों में आपको राजस्थान के उन दुर्गों से परिचय कराया जा रहा है, जो इतिहास प्रसिद्ध हैं –

अकबर का किला

अजमेर में स्थित इस किले का निर्माण 1570 में अकबर ने करवाया था। इस किले को दौलतखाना या मैग्जीन के नाम से भी जाना जाता है। हिन्दू–मुस्लिम पद्धति से निर्मित इस किले का निर्माण अकबर ने ख्वाजा मुइनुद्दीन हसन चिश्ती के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने हेतु करवाया था। 1576 में महाराजा प्रताप के विरुद्ध हल्दीघाटी युद्ध की योजना को भी अन्तिम रूप इसी किले में दिया गया था। जहाँगीर मेवाड़ को अधीनता में लाने के लिए तीन वर्ष तक इसी किले में रूका था। इस दौरान ब्रिटिश सम्राट जेम्स प्रथम के राजदूत सर टॉमस रो ने इसी किले में 10 जनवरी, 1616 को जहाँगीर से मुलाकात की थी। 1801 में अंग्रेजों ने इस किले पर अधिकार कर इसे अपना

शस्त्रागार (मैग्जीन) बना लिया। किले में स्थित आलीशान चित्रकारी तथा जनाने कक्षों की दीवारों में पच्चीकारी का कार्य बड़ा कलापूर्ण ढंग से किया गया है। वर्तमान में यहाँ राजकीय संग्रहालय स्थित है।

आमेर दुर्ग

यह दुर्ग अपने स्थापत्य की दृष्टि से अन्य दुर्गों से सर्वथा भिन्न है। प्रायः सभी दुर्गों में, जहाँ राजप्रासाद प्राचीर के भीतर समतल भू–भाग पर बने पाये जाते हैं, वहीं आमेर दुर्ग में राजमहल ऊँचाई पर पर्वतीय ढलान पर इस तरह बने हैं कि इन्हें ही दुर्ग का स्वरूप दिया लगता हैं। इस किले की सुरक्षा व्यवस्था काफी मजबूत थी, फिर भी कछवाहा शासकों के शौर्य और मुगल शासको से राजनीतिक मित्रता के कारण यह दुर्ग बाहरी आक्रमणों से सदैव बचा रहा। आमेर दुर्ग के नीचे मावठा तालाब और दौलाराम का बाग खूबसूरती के लिए प्रसिद्ध है। इस किले में बने शिलादेवी, जगतशिरोमणि और अम्बिकेश्वर महादेव के मन्दिरों का ऐतिहासिक काल से ही महत्त्व रहा है।

कुंभलगढ़ दुर्ग

वर्तमान राजसमन्द जिले में अरावली पर्वतमाला की चोटी पर स्थित कुंभलगढ़ दुर्ग का निर्माण राणा कुंभा ने करवाया था। इस दुर्ग का शिल्पी मंडन मिश्र था। कुंभलगढ़ संभवतः भारत का ऐसा किला है, जिसकी प्राचीर 36 किमी तक फैली है। दुर्ग रचना की दृष्टि से यह चित्तौड़ दुर्ग से ही नहीं बल्कि भारत के सभी दुर्गों में विलक्षण और अनुपम है। कुंभलगढ़ के भीतर ऊँचे भाग पर राणा कुंभा ने अपने निवास हेतु 'कटारगढ़' नामक अन्तःदुर्ग का निर्माण करवाया था। इसी कटारगढ़ में राणा उदयसिंह का राज्याभिषेक और महाराणा प्रताप का जन्म हुआ था। कुंभलगढ़ मेवाड़ की संकटकालीन राजधानी रहा है। किले के भीतर कुंभश्याम मंदिर, कुंभा महल, झाली रानी का महल आदि प्रसिद्ध इमारते हैं।

गागरोन का किला

झालावाड़ से चार किमी दूरी पर अरावली पर्वतमाला की एक सुदृढ़ चट्टान पर कालीसिन्ध और आहू नदियों के संगम पर बना यह किला जल दुर्ग की श्रेणी में आता है। इस किले का निर्माण कार्य डोड राजा बीजलदेव ने बारहवीं सदी में करवाया था। दुर्गम पथ, चौतरफा विशाल खाई तथा मजबूत दीवारों के कारण यह दुर्ग अपने आप में अनूठा और अद्भुत है। यह दुर्ग शौर्य ही नहीं भक्ति और त्याग की गाथाओं का साक्षी है।

संत रामानन्द के शिष्य संत पीपा इसी गागरोन के शासक रहे हैं, जिन्होंने राजसी वैभव त्यागकर राज्य अपने अनुज अचलदास खींची को सौंप दिया था। गागरोन में मुस्लिम संत पीर मिट्ठे साहब की दरगाह भी है, जिनका उर्स आज भी प्रतिवर्ष यहाँ लगता है। यह किला अचलदास खींची की वीरता के लिए प्रसिद्ध रहा है जो 1423 में मांडू के सुल्तान हुशंगशाह से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। युद्धोपरान्त रानियों ने अपनी रक्षार्थ जौहर किया।

चित्तौड़ का किला

राजस्थान के किलों में क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा चित्तौड़ का किला है। यह दुर्ग वीरता, त्याग, बलिदान, स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के प्रतीक के रूप में देश भर में विख्यात है। सात प्रवेश द्वारों से निर्मित इस किले का निर्माण चित्रांगद मौर्य ने करवाया था। यह किला गंभीरी और बेड़च नदियों के संगम पर स्थित है। दिल्ली से मालवा और गुजरात जाने वाले मार्ग पर अवस्थित होने के कारण मध्यकाल में इस किले का सामरिक महत्त्व था। 1303 में इस किले को अलाउद्दीन खिलजी ने तथा 1534 में गुजरात के बहादुरशाह ने अपने अधिकार में ले लिया था। 1567–1568 में अकबर ने चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण करके यहाँ भयंकर नरसंहार करवाया था। चित्तौड़गढ़ में इतिहास प्रसिद्ध साकों में 1303 का रानी पद्मिनी का जौहर और 1534 का रानी कर्णावती का जौहर मुख्य है। इस किले

के साथ गोरा–बादल, जयमल–पत्ता की वीरता तथा पन्नाधाय के त्याग की अमर गाथाएँ जुड़ी हैं।

चित्तौड़गढ़ के भीतर राणा कुंभा द्वारा निर्मित नौ मंजिला प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ अपने शिल्प और स्थापत्य की दृष्टि से अनूठा है। इस किले के भीतर निर्मित महलों और मन्दिरों में रानी पद्मिनी का महल, नवलखा भण्डार, जैन कीर्ति स्तम्भ (सात मंजिला), कुंभश्याम मंदिर, समिद्धेश्वर मंदिर, मीरा मंदिर, कालिका माता मंदिर, श्रृंगार चँवरी आदि दर्शनीय हैं।

जयगढ़

मध्ययुगीन भारत की प्रमुख सैनिक इमारतों में से एक जयगढ़ दुर्ग की खास बात यह कि इसमें तोपें ढालने का विशाल कारखाना था, जो शायद ही किसी अन्य भारतीय दुर्ग में रहा है। इस किले में रखी 'जयबाण' तोप को एशिया की सबसे बड़ी तोप माना जाता है। जयगढ़ अपने विशाल पानी के टांकों के लिये भी जाना जाता है। जल संग्रहण की खास तकनीक के अन्तर्गत जयगढ़ किले के चारों ओर पहाड़ियों पर बनी पक्की नालियों से बरसात का पानी इन टांकों में एकत्र होता रहा है। इस किले का निर्माण एवं विस्तार में विभिन्न कछवाहा शासकों का योगदान रहा है, परन्तु इसे वर्तमान स्वरूप सवाई जयसिंह ने प्रदान किया। जयगढ़ को रहस्यमय दुर्ग भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें कई गुप्त सुरंगे हैं। इस किले में राजनीतिक बन्दी रखे जाते थे। ऐसा माना जाता है कि मानसिंह ने यहाँ सुरक्षा की दृष्टि से अपना खजाना छिपाया था। वर्तमान में जयगढ़ किले में मध्यकालीन शस्त्रास्त्रों का विशाल संग्रहालय है। यहाँ के महल दर्शनीय हैं।

जालौर का किला

सोनगिरि पहाड़ी पर स्थित यह किला सूकड़ी नदी के किनारे बना हुआ है। शिलालेखों में जालौर का नाम जाबालिपुर और किले का नाम सुवर्णगिरि मिलता है। इस किले का निर्माण प्रतिहारों द्वारा आठवीं सदी में करवाया गया था। इस किले पर परमार, चौहान, सोलंकियों, तुर्कों और राठौड़ो का समय–समय पर आधिपत्य रहा। किले के भीतर बनी तोपखाना मस्जिद, जो पूर्व में परमार शासक भोज द्वारा निर्मित संस्कृत पाठशाला थी, बहुत आकर्षक है। यहाँ का प्रसिद्ध शासक कान्हड़दे चौहान (1305–1311) था, जो अलाउद्दीन खिलजी से लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ।

जूनागढ़ का किला

बीकानेर स्थित जूनागढ़ किले का निर्माण राठौड़ शासक रायसिंह ने करवाया था। यहाँ पूर्व में स्थित पुराने किले के स्थान पर इस किले का निर्माण करवाने के कारण इसे जूनागढ़ के नाम से जाना जाता है। जूनागढ़ के आन्तरिक प्रवेश द्वार सूरजपोल के दोनों तरफ जयमल मेड़तियाँ और फत्ता सिसोदिया की गजारूढ़ मूर्तियाँ स्थापित हैं, जो उनके पराक्रम और बलिदान का स्मरण कराती हैं। सूरजपोल पर ही रायसिंह प्रशस्ति उत्कीर्ण है। शिल्प सौन्दर्य की अनूठी मिशाल लिए जूनागढ़ किले में बने महल और उनकी बनावट मुगल स्थापत्य कला की बरबस ही याद दिलाते हैं। किले में कुल 37 बुर्जे हैं, जिनके ऊपर कभी तोपें रखी जाती थीं। सम्भवतः राजस्थान का यह एक मात्र ऐसा किला है, जिसकी दीवारें, महल इत्यादि में शिल्प सौन्दर्य का अद्‌भुत मिश्रण है। गंगा निवास जूनागढ़ का ऐसा हॉल है, जिसमें पत्थर की बनावट और उस पर उत्कीर्ण कृष्ण रासलीला दर्शनीय हैं। फूलमहल, गजमंदिर, अनूप महल, कर्ण महल, लाल निवास, सरदार निवास इत्यादि इस किले के प्रमुख वास्तु हैं।

जैसलमेर का किला

राजस्थान की स्वर्णनगरी कहे जाने वाले जैसलमेर में त्रिकूट पहाड़ी पर पीले पत्थरों से निर्मित इस किले को 'सोनार का किला' भी कहा जाता है। इसका निर्माण बारहवीं सदी में भाटी शासक राव जैसल ने करवाया था। दूर से देखने पर यह किला पहाड़ी पर लंगर डाले एक

जहाज का आभास कराता है। दुर्ग के चारों ओर घाघरानुमा परकोटा बना हुआ है, जिसे 'कमरकोट' अथवा 'पाडा' कहा जाता है। इसे बनाने में चूने का प्रयोग नहीं किया गया बल्कि कारीगरों ने बड़े–बड़े पीले पत्थरों को परस्पर जोड़कर खड़ा किया है। 99 बुर्जो वाला यह किला मरुभूमि का महत्त्वपूर्ण किला है। किले के भीतर बने प्राचीन एवं भव्य जैन मंदिर–पार्श्वनाथ और ऋषभदेव मंदिर अपने शिल्प एवं सौन्दर्य के कारण आबू के देलवाड़ा जैन मंदिरों के तुल्य हैं। किले के महलों में रंगमहल, मोती महल, गजविलास और जवाहर विलास प्रमुख हैं। जैसलमेर का किला इस रूप में भी खासा प्रसिद्ध है कि यहाँ पर दुर्लभ और प्राचीन पाण्डुलिपियों का अमूल्य संग्रह है।

जैसलमेर का किला 'ढाई साके' के लिए प्रसिद्ध है। पहला साका अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316) के आक्रमण के दौरान, दूसरा साका फिरोज तुगलक (1351–1388) के आक्रमण के दौरान हुआ था। 1550 में कंध ाार के अमीर अली ने यहाँ के भाटी शासक लूणकरण को विश्वासघात करके मार दिया था परन्तु भाटियों की विजय होने के कारण महिलाओं ने जौहर नहीं किया। यह घटना 'अर्द्ध साका' कहलाती है।

तारागढ़ (अजमेर)

अजमेर में स्थित तारागढ़ को 'गढ़बीठली' के नाम से भी जाना जाता है। चौहान शासक अजयराज (1105–1133) द्वारा निर्मित इस किले के बारे में मान्यता है कि राणा सांगा के भाई कुँवर पृथ्वीराज ने इस किले के कुछ भाग बनवाकर अपनी पत्नी तारा के नाम पर इसका नाम तारागढ़ रखा था। तारागढ़ के भीतर 14 विशाल बुर्जे, अनेक जलाशय और मुस्लिम संत मीरान् साहब की दरगाह बनी हुई है।

तारागढ़ (बूँदी)

बूँदी का दुर्ग तारागढ़ पर्वत की ऊँची चोटी पर तारे के समान दिखाई देने के कारण 'तारागढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। हाड़ा शासक बरसिंह द्वारा चौदहवीं सदी में बनवाये गये इस किले को मालवा के महमूद खिलजी, मेवाड़ के राणा क्षेत्रसिंह और जयपुर के सवाई जयसिंह के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। यहाँ के शासक सुर्जन हाड़ा द्वारा 1569 में अकबर की अधीनता स्वीकारने के कारण यह किला अप्रत्यक्ष रूप से मुगल अधीनता में चला गया। तारागढ़ के महलों के भीतर सुन्दर चित्रकारी (भितिचित्र) हाड़ौती कला के सजीव रूप का प्रतिनिधित्व करती है। किले में छत्र महल, अनिरूद्ध महल, बादल महल, फूल महल इत्यादि बने हुये हैं।

नाहरगढ़

जयपुर के पहरेदार के रूप में प्रसिद्ध इस किले का निर्माण सवाई जयसिंह ने करवाया था। इस किले को सुदर्शनगढ़ के नाम से भी जाना जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस किले का निर्माण सवाई जयसिंह ने मराठों के विरुद्ध सुरक्षा की दृष्टि से करवाया था। इस किले में सवाई माधोसिंह ने अपनी नौ पासवानों के नाम पर एक समान नौ महल बनवाये।

मेहरानगढ़

सूर्यनगरी के नाम से विख्यात जोधपुर की चिड़ियाटूक पहाड़ी पर राव जोधा ने 1459 में मेहरानगढ़ का निर्माण करवाया था। मयूर की आकृति में बने इस दुर्ग को मयूरध्वज के नाम से जाना जाता है। मेहरानगढ़ दो मंजिला है। इसमें रखी लम्बी दूरी तक मार करने वाली अनेक तोपों का अपना गौरवमयी इतिहास है। इनमें किलकिला, भवानी इत्यादि तोपें अत्यधिक भारी और अद्भुत हैं। यह दुर्ग वीर दुर्गादास की स्वामिभक्ति का साक्षी है। लाल बलुआ पत्थर से निर्मित मेहरानगढ़ वास्तुकला की दृष्टि से बेजोड़ है। इस किले के स्थापत्यों में मोती महल, फतह महल, जनाना महल, श्रृंगार चौकी, तख्तविलास, अजीत विलास, उम्मेद विलास इत्यादि का वैभव प्रशंसनीय है। इसमें स्थित महलों की नक्काशी, मेहराब, झरोखें और जालियों की बनावट हैरत डालने वाली है।

रणथम्भौर दुर्ग

सवाई माधोपुर शहर के निकट स्थित रणथम्भौर

दुर्ग अरावली पर्वत की विषम आकृति वाली सात पहाड़ियों से घिरा हुआ है। यह किला यद्यपि एक ऊँचे शिखर पर स्थित है, तथापि समीप जाने पर ही दिखाई देता है। यह दुर्ग चारों ओर से घने जंगलों से घिरा हुआ है तथा इसकी किलेबन्दी काफी सुदृढ़ है। इसलिए अबुल फ़ज़ल ने इसे बख्तरबंद किला कहा है। ऐसी मान्यता है कि इसका निर्माण आठवीं शताब्दी में चौहान शासकों ने करवाया था।

हम्मीर देव चौहान की आन–बान का प्रतीक रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी ने 1301 में ऐतिहासिक आक्रमण किया था। हम्मीर विश्वासघात के परिणामस्वरूप लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ तथा उसकी पत्नी रंगादेवी ने जौहर कर लिया। यह जौहर राजस्थान के इतिहास का प्रथम जौहर माना जाता है। रणथम्भौर किले में बने हम्मीर महल, हम्मीर की कचहरी, सुपारी महल, बादल महल, बत्तीस खंभों की छतरी, जैन मंदिर तथा त्रिनेत्र गणेश मंदिर उल्लेखनीय हैं। गणेश मन्दिर की विशेष मान्यता है।

लोहागढ़

राजस्थान के सिंहद्वार भरतपुर में जाट राजाओं की वीरता एवं शौर्य गाथाओं को अपने आंचल में समेटे लोहागढ़ का किला अजेयता एवं सुदृढ़ता के लिए प्रसिद्ध हैं। जाट शासक सूरजमल ने इसे 1733 में बनवाया था। लोहागढ़ को यहाँ पूर्व में एक मिट्टी की गढ़ी को विकसित करके वर्तमान रूप में परिवर्तित किया गया। किले के प्रवेशद्वार पर अष्टधातु निर्मित कलात्मक और मजबूत दरवाजा आज भी लोहागढ़ का लोहा मनवाता प्रतीत होता है। इस कलात्मक दरवाजे को महाराजा जवाहरसिंह 1765 में दिल्ली से विजय करके लाये थे। इस किले की अभेद्यता का कारण इसकी दीवारों की चौड़ाई है। किले की बाहरी प्राचीर मिट्टी की बनी है तथा इसके चारों ओर एक गहरी खाई है। अंग्रेज जनरल लॉर्ड लेक ने तो अपनी विशाल सेना और तोपखाने के साथ पाँच बार इस किले पर चढ़ाई की परन्तु हर बार उसे पराजय का सामना करना पड़ा। किले में बने किशोरी महल, जवाहर बुर्ज, कोठी खास, दादी माँ का महल, वजीर की कोठी, गंगा मंदिर, लक्ष्मण मंदिर आदि दर्शनीय हैं।

मन्दिर शिल्प

मन्दिर शिल्प की दृष्टि से राजस्थान अत्यन्त समृद्ध है तथा उत्तर भारत के मंदिर स्थापत्य के इतिहास में उसका विशिष्ट महत्त्व है। राजस्थान में जो मंदिर मिलते हैं, उनमें सामान्यतः एक अलंकृत प्रवेशद्वार होता है, उसे तोरण द्वार कहते हैं। तोरण द्वार में प्रवेश करते ही उप मण्डप आता है। तत्पश्चात् विशाल आंगन आता है, जिसे सभा मण्डप कहते हैं। सभा मण्डप के आगे मूल मंदिर का प्रवेश द्वार आता है। मूल मन्दिर को गर्भगृह कहा जाता है, जिसमें मूल नायक की प्रतिमा होती है। गर्भगृह के ऊपर अलंकृत अथवा स्वर्णमण्डित शिखर होता है। गर्भगृह के चारों ओर गलियारा होता है, जिसे पद–प्रदक्षिणा पथ कहा जाता है। तेरहवीं सदी तक राजपूतों के बल एवं शौर्य की भावना मन्दिर स्थापत्य में भी प्रतिबिम्बित होती है। अब मन्दिर के चारों ओर ऊँची दीवारें, बड़े दरवाजें तथा बुर्ज बनाकर दुर्ग स्थापत्य का आभास करवाया गया। इस प्रकार के मन्दिरों में रणकपुर का जैन मन्दिर, उदयपुर का एकलिंगजी का मन्दिर, नीलकण्ठ (कुंभलगढ़) मन्दिर प्रमुख हैं।

राजथान में सातवीं शताब्दी से पूर्व जो मन्दिर बने, दुर्भाग्य से उनके अवशेष ही प्राप्त होते हैं। यहाँ मन्दिरों के विकास का काल सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य रहा। यह वह काल था, जब राजस्थान में अनेक मन्दिर बने। इस काल में ही मन्दिरों की क्षेत्रीय शैलियाँ विकसित हुई। इस काल में विशाल एवं परिपूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ। लगभग आठवीं शताब्दी से राजस्थान में जिस क्षेत्रीय शैली का विकास हुआ, गुर्जर–प्रतिहार अथवा महामारू कहा गया है। इस शैली के अन्तर्गत प्रारम्भिक निर्माण मण्डौर के प्रतिहारों, सांभर के चौहानों तथा चित्तौड़ के मौर्यों ने किया। इस प्रकार के मन्दिरों में केकीन्द (मेड़ता) का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर, किराडू का सोमेश्वर मन्दिर प्रमुख हैं। इस क्रम को आगे बढ़ाने वालों में जालौर के गुर्जर प्रतिहार रहे और बाद

में चौहानों, परमारों और गुहिलों ने मन्दिर शिल्प को समृद्ध बनाया। परन्तु इस युग के कुछ मन्दिर गुर्जर–प्रतिहार शैली की मूलधारा से अलग है, इनमें बाड़ौली का मन्दिर, नागदा में सास–बहू का मन्दिर और उदयपुर में जगत अम्बिका मन्दिर प्रमुख हैं। इसी युग का सिरोही जिले में वर्माण का ब्रह्माण्ड स्वामी मन्दिर अपनी भग्नावस्था के बावजूद राजस्थान के सुन्दर मन्दिरों में से एक है। यह मन्दिर एक अलंकृत मंच पर अवस्थित है। दक्षिण राजस्थान के इन मन्दिरों में क्रमबद्धता एवं एकसूत्रता का अभाव दिखाई देता है। इन मन्दिरों के शिल्प पर गुजरात का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन मन्दिरों में विभिन्न शैलीगत तत्त्वों एवं परस्पर विभिन्नताओं के दर्शन होते हैं।

ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी के बीच निर्मित होने वाले राजस्थान के मन्दिरों को श्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि यह मन्दिर–शिल्प के उत्कर्ष का काल था। इस युग में राजस्थान में काफी संख्या में बड़े और अलंकृत मन्दिर बने, जिन्हें सोलंकी या मारु गुर्जर शैली के अन्तर्गत रख जा सकता है। इस शैली के मन्दिरों में ओसियाँ का सच्चिया माता मन्दिर, चित्तौड़ दुर्ग में स्थित समिंधेश्वर मन्दिर आदि प्रमुख हैं। इस शैली के द्वार सजावटी है। खंभे अलंकृत, पतले, लम्बे और गोलाई लिये हुये है, गर्भगृह के रथ आगे बढ़े हुये है। ये मन्दिर ऊँची पीठिका पर बने हुये हैं।

राजस्थान में जैन धर्म के अनुयायियों ने अनेक जैन मन्दिर बनवाये, जो वास्तुकला की दृष्टि से अभूतपूर्व हैं। इन मंदिरों में विशिष्ट तल विन्यास, संयोजन और स्वरूप का विकास हुआ जो इस धर्म की पूजा–पद्धति और मान्यताओं के अनुरूप था। जैन मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध देलवाड़ा के मन्दिर हैं। इनके अतिरिक्त रणकपुर, ओसियाँ, जैसलमेर आदि स्थानों के जैन मन्दिर प्रसिद्ध हैं। साथ ही, पाली जिले में सेवाड़ी, घाणेराव, नाडौल–नारलाई, सिरोही जिले में वर्माण, झालावाड़ जिले में चाँदखेड़ी और झालरापाटन, बूँदी में केशोरायपाटन, करौली में श्रीमहावीर जी आदि स्थानों के जैन मन्दिर प्रमुख हैं।

एकलिंगजी का मन्दिर, उदयपुर

मेवाड़ महाराणाओं के इष्टदेव एकलिंगजी का लकुलीश मन्दिर उदयपुर शहर के निकट नाथद्वारा राजमार्ग पर कैलाशपुरी नामक गाँव में बना हुआ है। इसका निर्माण आठवीं शताब्दी में मेवाड़ के गुहिल शासक बप्पा रावल ने करवाया था तथा इसे वर्तमान स्वरूप महाराणा रायमल ने दिया था। मन्दिर के मुख्य भाग में काले पत्थर से बनी एकलिंगजी की चतुर्मुखी प्रतिमा है। किसी भी साहसिक कार्य के लिए प्रस्थान करने से पूर्व मेवाड़ के शासक इस मन्दिर में आकर आशीर्वाद लेते थे। एकलिंग जी को मेवाड़ राजघराने का कुलदेवता माना जाता था, जबकि यहाँ का राजा स्वयं को इनका दीवान मानते थे। इस मन्दिर के अहाते में कुंभा द्वारा निर्मित विष्णु मंदिर भी है, जिसे लोग मीराबाई का मन्दिर कहते हैं। एकलिंगजी में शिवरात्रि को प्रतिवर्ष मेला लगता है।

किराडू के मन्दिर, बाड़मेर

बाड़मेर जिले में स्थित किराडू प्राचीन मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ का सोमेश्वर मन्दिर शिल्पकला के लिए विख्यात है। वीर रस, श्रृंगार रस, युद्ध, नृत्य, कामशारुप इत्यादि की भाव भंगिमा युक्त मूर्तियाँ शिल्पकला की दृष्टि से अनूठी हैं। कामशास्त्र की मूर्तियों के कारण किराडू को 'राजस्थान का खजुराहो' कहा जाता है। किराडू के मन्दिरों की मूर्तियाँ जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेटे हुए है। शिल्पकला के लिए विख्यात ये मन्दिर ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी के बने हुए हैं।

कैला देवी मन्दिर, करौली

मूल मंदिर खींची राजपूतों का है, जिसे कालान्तर में यादव वंश के शासक भंवरपाल ने संगमरमर से निर्मित करवाया था। इनकी कुलदेवी कैलादेवी है, जिसका मन्दिर करौली से 26 किमी दूर अवस्थित है। मुख्य मन्दिर में कैलादेवी (महालक्ष्मी) एवं चामुण्डा देवी की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। धार्मिक आस्था के प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित इस मन्दिर में लाखों दर्शनार्थी प्रतिवर्ष आते हैं। इसलिए यहाँ लगने वाले मेले को लक्खी मेला कहा जाता है। राजपूत, मीणा आदि कैलादेवी के प्रमुख भक्त माने जाते हैं। यहाँ एक

भैरों मन्दिर और हनुमान मन्दिर (लांगुरिया) भी स्थित है। यहाँ लगने वाले मेले में लांगुरिया गीत गाये जाते हैं।

गणेश मन्दिर, रणथम्भौर

सवाई माधोपुर शहर के निकट स्थित रणथम्भौर के किले में देशभर में विख्यात त्रिनेत्र मन्दिर बना हुआ है। सिन्दूर लेपन की मात्रा अधिक होने के कारण मूर्ति का वास्तविक स्वरूप जानना कठिन है, पर इतना निश्चित है कि गणेशजी के मुख की ही पूजा की जाती है। गर्दन, हाथ, शरीर, आयुध व अन्य अवयव इस प्रतिमा में नहीं है। वैवाहिक इत्यादि मांगलिक अवसरों पर गणेश जी को प्रथम पाती पहुँचाकर निमन्त्रित करने की सुदीर्घ परम्परा है।

गोविन्ददेव जी मन्दिर, जयपुर

जयपुर का गोविन्ददेवजी मन्दिर गौड़ीय सम्प्रदाय का प्रमुख मन्दिर है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इनके बालरूप की पूजा करते हैं, तो गौड़ीय सम्प्रदाय वाले युगल रूप अर्थात् राधाकृष्ण के रूप में पूजते हैं। गोविन्ददेव जी की यह मूर्ति सवाई जयसिंह द्वारा वृन्दावन से लाकर जयपुर में प्रतिष्ठापित की गई थी। यह मंदिर जगन्नाथपुरी, ब्रज और ढूँढाड़ क्षेत्र की परम्पराओं का सुन्दर संयोजन प्रस्तुत करता है।

जगतशिरोमणि मन्दिर, आमेर

आमेर में स्थित इस मंदिर का निर्माण कछवाहा शासक मानसिंह की पत्नी कंकावती ने अपने पुत्र जगतसिंह की स्मृति में करवाया था। कहा जाता है इस मंदिर में प्रतिष्ठित काले पत्थर की कृष्ण की मूर्ति वही मूर्ति है, जिसकी मीरा चित्तौड़ में आराधना किया करती थी। मानसिंह इसे चित्तौड़ से लेकर आया था। यह मंदिर अपने उत्कृष्ट शिल्प एवं सौन्दर्य के कारण आमेर का सबसे अधिक विख्यात मंदिर है।

जगदीश मंदिर, उदयपुर

उदयपुर में स्थित जगदीश मन्दिर शिल्पकला की दृष्टि से अनूठा है। इसका निर्माण 1651 में महाराणा जगतसिंह ने करवाया था। इसमें भगवान जगदीश (विष्णु) की काले पत्थर से निर्मित पाँच फीट ऊँची प्रतिमा स्थापित है। यह मन्दिर पंचायतन शैली का है। चार लघु मंदिरों से परिवृत होने के कारण इसे पंचायतन कहा गया है। मन्दिर के चारों कोनों में शिव पार्वती, गणपति, सूर्य तथा देवी के चार लघु मन्दिर तथा गर्भगृह के सामने गरूड़ की विशाल प्रतिमा है।

यह विशाल और शिखरबन्द मन्दिर एक ऊँचे स्थान पर बना हुआ होने के कारण बड़ा भव्य दिखता है। इस मन्दिर के बाहरी भाग में चारों ओर अत्यन्त सुन्दर शिल्प बना हुआ है। कर्नल टॉड, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, कविराज श्यामलदास आदि ने इस मन्दिर के शिल्प की उत्कृष्टता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

सूर्य मंदिर, झालरापाटन

झालरापाटन के मध्य अवस्थित इस विशाल मन्दिर में सूर्य और विष्णु के सम्मिलित भाव की एक ही प्रतिमा मुख्य रथिका में है। गर्भगृह के बाहर शिव की ताण्डव नृत्यरत प्रतिमा और मातृकाओं की प्रतिमाएँ हैं। यह मन्दिर मूल रूप से दसवीं सदी का है, गर्भगृह की रथिका में त्रिमुखी सूर्य प्रतिमा है, जिसमें विष्णु का भाव मिश्रित है।

जैन मन्दिर, देलवाड़ा

सफेद संगमरमर से निर्मित भारतीय शिल्पकला की उत्कृष्टता तथा जैन संस्कृति के वैभव और उदारता को प्रकट करने वाले देलवाड़ा के जैन मन्दिर सिरोही जिले में आबू पर्वत पर स्थित है। यहाँ स्थित जैन मन्दिरों में दो मन्दिर प्रमुख है। प्रथम मन्दिर 1031 ई. में गुजरात के चालुक्य राजा भीमदेव के मन्त्री विमलशाह ने बनवाया था। यह मन्दिर प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव को समर्पित है। इस मन्दिर को विमलवसही के नाम से भी जाना जाता है। दूसरा प्रमुख मन्दिर 22वें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का है, जिसका निर्माण वास्तुपाल और

तेजपाल द्वारा 1230 में करवाया गया था। इस मन्दिर को लूणवसही के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ के मन्दिरों के मंडपों, स्तम्भों, छतरियों तथा वेदियों के निर्माण में श्वेत पत्थर पर इतनी बारीक एवं भव्य खुदाई की गई है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः यह मन्दिर सम्पूर्ण भारत में कलात्मकता में बेजोड़ है।

शिव मन्दिर, बाड़ौली

चित्तौड़ जिले में स्थित बाड़ौली शिव मन्दिर पंचायतन शैली के मन्दिर के रूप में विख्यात है। इसमें मुख्य मूर्तियाँ शिव–पार्वती और उनके अनुचरों की है। ऐसा माना जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण हूण शासक तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने करवाया था। इस मन्दिर को प्रकाश में लाने का श्रेय जेम्स टॉड को दिया जाता है।

ब्रह्मा मन्दिर , पुष्कर

पुष्कर में स्थित ब्रह्मा मन्दिर राजस्थान के प्राचीनतम मन्दिरों में से एक है और पूरे भारत में कुछ वर्षों पूर्व तक यह अकेला मन्दिर था। मन्दिर के अन्दर चतुर्मुखी ब्रह्माजी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

शिव मन्दिर , भण्डदेवरा

बारां जिले के रामगढ़ में स्थित भण्डदेवरा के शिव मन्दिर को 'हाड़ौती का खजुराहो' कहा जाता है। मन्दिर में उत्कीर्ण मिथुन मुद्रा की आकृतियाँ इसे खजुराहो के समकक्ष रखती है। इस मन्दिर का निर्माण मेदवंशीय राजा मलय वर्मा ने दसवीं शताब्दी में करवाया था। यह देवालय पंचायतन शैली में बना हुआ है।

जैन मन्दिर, रणकपुर

पाली जिले में स्थित रणकपुर का जैन मन्दिर, अपनी अद्भुत शिल्पकला एवं भव्यता के साथ आध्यात्मिकता लिए हुए है। प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित इस मन्दिर का निर्माण महाराणा कुंभा के शासनकाल (1433–1468) में धरणशाह नामक एक जैन व्यापारी ने, प्रसिद्ध शिल्प विशेषज्ञ देपाक के निर्देशन में करवाया था। यह मन्दिर 1444 खंभों पर टिका हुआ है। इसलिए इसे 'खंभों का अजायबघर' कहा जाता है। मूल गर्भगृह में आदिनाथ की चार मुख वाली मूर्ति लगी हुई है। इसलिए यह मन्दिर 'चौमुखा मन्दिर' भी कहलाता है। यह मन्दिर अपनी शिल्पकला के साथ ही अध्यात्म एवं शांति का केन्द्र है।

रामद्वारा, शाहपुरा

भीलवाड़ा जिले में स्थित शाहपुरा में रामस्नेही सम्प्रदाय की मुख्य पीठ स्थित है। यहाँ रामस्नेही सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी रामचरण का समाधिस्थल तथा एक विशाल रामद्वारा बना हुआ है। रामचरण के समाधि स्थल पर बारहदरी बनी है, जिस पर कलात्मक बारह स्तंभ एवं बारह दरवाजे लगे हुये हैं। रामद्वारा परिसर में सम्प्रदाय के आचार्यों और शाहपुरा के दिवंगत राजाओं की छतरियाँ बनी हुई हैं। यहाँ प्रतिवर्ष फूलडोल उत्सव धूमधाम से मनाया जाता है।

शिलादेवी मन्दिर, आमेर

आमेर में स्थित शिलादेवी मन्दिर का निर्माण कछवाहा शासक मानसिंह (1589–1614) ने करवाया था। मानसिंह शिलादेवी की मूर्ति को बंगाल से जीतकर लाया था। इस मन्दिर के कपाट चाँदी के बने हुये हैं, जिन पर विद्या देवियाँ व नवदुर्गा का चित्रण किया गया है।

शीतलेश्वर मन्दिर , झालरापाटन

झालावाड़ जिले में झालरापाटन में चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित यह मन्दिर राजस्थान के तिथियुक्त मन्दिरों में सबसे प्राचीन (689 ई.) हैं। इस मन्दिर के भग्नावशेषों में केवल गर्भगृह और छत रहित अंतराल ही मिलता है।

श्रीनाथजी मन्दिर, नाथद्वारा

राजसमन्द जिले के श्रीनाथद्वारा में स्थित श्रीनाथजी मन्दिर पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का प्रमुख तीर्थस्थल है। यहाँ

कृष्ण के बालरूप की उपासना की जाती है। औरंगजेब द्वारा हिन्दू मूर्तियों एवं मन्दिरों को तुड़वाने पर मथुरा से वैष्णव दाउजी महाराज के नेतृत्त्व में वैष्णव भक्त श्रीनाथ जी की मूर्ति सिहाड़ (आधुनिक नाथद्वारा)लाये थे, जहाँ महाराणा राजसिंह ने उन्हें शरण देकर यहाँ मूर्ति को प्रतिष्ठित किया था। यहाँ अष्टछाप कवियों के पद गाये जाते हैं, जिसे 'हवेली संगीत' कहा जाता है। यहाँ श्रीनाथ के स्वरूप के पीछे कृष्णलीला विषयक पट् लगाया जाता है, जिसे 'पिछवाई' कहा जाता है।

सच्चिया माता मन्दिर , ओसियां

जोधपुर जिले के ओसियाँ में सच्चिया माता का बारहवीं सदी का विशाल और भव्य मन्दिर स्थित है। इस पंचायतन शैली के मन्दिर के कोनों पर विष्णु, शिव व सूर्य के मन्दिर बने हुये है, जो स्थापत्य शिल्प के उत्कृष्ट नमूने हैं। सच्चिया माता हिन्दुओं और ओसवाल समाज दोनों की ही पूज्य देवी है। ओसियाँ के मन्दिरों में शैलीगत विविधता मिलती है। इनमें अलंकरण काफ़ी मात्रा में है। यहाँ के मन्दिरों के दरवाजों पर पौराणिक तथा लोक कथाओं का चित्रण किया गया है।

यहाँ के मन्दिर परिसर में जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का एक सुन्दर मन्दिर है, जो प्रतिहारकालीन है। इस मन्दिर के तोरण भव्य हैं और स्तम्भों पर जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है।

सास–बहू मन्दिर , नागदा

उदयपुर जिले में स्थित नागदा में युगल मन्दिर के रूप में प्रसिद्ध सास–बहू का मन्दिर बना हुआ है। इनमें बड़ा मन्दिर (सास का मन्दिर) दस सहायक देव मन्दिरों से घिरा हुआ है, जबकि छोटा मंदिर (बहू का मन्दिर) पंचायतन प्रकार का है। ये मन्दिर विष्णु को समर्पित है तथा दसवीं सदी के बने हुये हैं, जो श्वेत पत्थर के चौकोर चबूतरों पर निर्मित है। सास के मन्दिर का शिखर ईंटों का है तथा शेष मन्दिर संगमरमर का है। इस मंदिर के स्तंभ, उत्कीर्ण शिलापट्ट एवं मूर्तियों सभी उत्कृष्ट शिल्पकला के उदाहरण हैं।

राजप्रासाद एवं महल स्थापत्य

प्राचीन ग्रंथों में राजप्रासाद वास्तु का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। राजस्थान को इतिहास में 'राजाओं के प्रदेश' के नाम से भी जाना गया है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि राजा अपने रहने के विस्तृत आवास बनाते। दुर्भाग्य से, अब राजस्थान के प्राचीन एवं पूर्व मध्यकाल की संधिकाल के राजप्रासादों के खण्डहर ही शेष रहे हैं। मेनाल, नागदा आदि स्थान के राजप्रासादों के खण्डहर यह बताते हैं कि वे सादगी युक्त थे। इनमें संकरे दरवाजे एवं खिड़कियों का अभाव है, जो सुरक्षा के कारणों से रखे गये हैं।

मध्यकाल में राजप्रासाद विशाल, भव्य एवं अलंकृत बनने लगे। पूर्व मध्यकाल में अधिकांश राजप्रासाद किलों में ही देखने को मिलते हैं। इन राजप्रासादों में राजा एवं उसके परिवार के अतिरिक्त उसके बन्धु–बान्धव तथा अतिविशिष्ट नौकरशाही रहा करती थी। इस युग में भी कई वास्तुविद् हुए जिनमें मण्डन, नापा, भाणा, विद्याधर आदि प्रमुख हैं। कुम्भायुगीन प्रख्यात शिल्पी मण्डन का विचार है कि राजभवन नगर के मध्य में अथवा नगर के एक तरफ किसी ऊँचे स्थान पर बनाना चाहिये। उसने जनाना एवं मर्दाना महलों को सुगम मार्गों से जोड़े जाने की व्यवस्था सुझाई है। उसने अन्य महलों को भी एक–दूसरे से जोड़ने तथा सभी को एक इकाई का रूप देने पर बल दिया है। कुम्भाकालीन राजप्रासाद सादे थे किन्तु बाद के काल में महलों की बनावट एवं शिल्प में परिवर्तन दिखाई देता है। 15वीं शताब्दी के पश्चात् महलों में मुगल प्रभाव देखा जा सकता है। अब इन महलों में तड़क–भड़क देखी जा सकती है। फव्वारे, छोटे बाग–बगीचे, बेल–बूँटे, संगमरमर का प्रयोग, मेहराब, गुम्बज आदि रूपों में मुगल प्रभाव को इन इमारतों में देखा जा सकता है। उदयपुर के महलों में अमरसिंह के महल कर्णसिंह का जगमन्दिर, जगतसिंह द्वितीय के समय के प्रीतम निवास महल, जगनिवास महल, आमेर के दीवाने आम, दीवाने खास, बीकानेर के कर्णमहल, शीशमहल, अनूप महल, रंगमहल,

जोधपुर का फूल महल आदि पर मुगल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सत्रहवी शताब्दी के बाद कोटा, बूँदी, जयपुर आदि में निर्मित महलों में स्पष्टतः मुगल प्रभाव दिखाई देता है। मुगल प्रभाव के कारण राजप्रासादों में दीवाने आम, दीवाने खास, चित्रशालाएँ, बारहदरियाँ, गवाक्ष–झरोखे, रंग महल आदि को स्थान मिलने लगा। इस प्रकार के महलों में जयपुर का सिटी पैलेस, उदयपुर का सिटी पैलेस प्रमुख है। राजस्थान के महलों में डीग के महलों का विशिष्ट स्थान है। डीग के महल जाट नरेश सूरजमल द्वारा निर्मित है। डीग के महलों के चारों ओर छज्जे (कार्निस) हैं, जो प्रभावोत्पादक है। डीग के महलों एवं इनमें बने उद्यानों का दृष्टिभाव (दिखना) विशेष कौशल का परिचय कराता है। यह जल महल के नाम से भी प्रख्यात है। डीग के महलों में गोपाल भवन विशेष है।

हवेली स्थापत्य

राजस्थान में बड़े–बड़े सेठ साहूकारों तथा धनी व्यक्तियों ने अपने निवास के लिये विशाल हवेलियों का निर्माण करवाया। ये हवेलियाँ कई मंजिला होती थी। शेखावाटी, ढूँढाड़, मारवाड़ तथा मेवाड़ क्षेत्रों की हवेलियाँ स्थापत्य की दृष्टि से भिन्नता लिए हुये हैं। शेखावाटी क्षेत्र की हवेलियाँ अधिक भव्य एवं कलात्मक है। जयपुर, जैसलमेर, बीकानेर, तथा शेखावाटी के रामगढ़, नवलगढ़, फतहपुर, मुकुंदगढ़, मण्डावा, पिलानी, सरदार शहर, रतनगढ़ आदि कस्बों में खड़ी विशाल हवेलियाँ आज भी अपने स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। राजस्थान की हवेलियाँ अपने छज्जों, बरामदों और झरोखें पर बारीक नक्काशी के लिए प्रसिद्ध हैं।

जैसलमेर की हवेलियाँ राजपूताना के आकर्षण का केन्द्र रही है। यहाँ की पटवों की हवेली अपनी शिल्पकला, विशालता एवं अद्‌भुत नक्काशी के कारण प्रसिद्ध है। यह सेठ गुमानचन्द बापना ने बनवाई थी। यह पाँच मंजिला हवेली शहर के मध्य स्थित है। इस हवेली के जाली–झरोखें बरबस ही पर्यटक को आकर्षित करते हैं। पटवों की हवेली के अतिरिक्त जैसलमेर, में स्थित सालिमसिंह की हवेली का शिल्प–सौन्दर्य भी बेजोड़ है। इस नौ खण्डी हवेली के प्रथम सात खण्ड पत्थर के और ऊपरी दो खण्ड लकड़ी के बने हुये थे। बाद में लकड़ी के दोनों खण्ड उतार लिये गये। जैसलमेर की नथमल की हवेली भी शिल्पकला की दृष्टि से अपना अनूठा स्थान रखती है। इस हवेली का शिल्पकारी का कार्य हाथी और लालू नामक दो भाइयों ने इस संकल्प के साथ शुरू किया था कि वे हवेली में प्रयुक्त शिल्प को दोहरायेंगे नहीं, इसी कारण इसका शिल्प अनूठा है।

बीकानेर की प्रसिद्ध 'बच्छावतों की हवेली' का निर्माण सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कर्णसिंह बच्छावत ने करवाया था। इसके अतिरिक्त बीकानेर में मोहता, मूंदड़ा, रामपुरिया आदि की हवेलियाँ अपने शिल्प वैभव के कारण विख्यात है। बीकानेर की हवेलियाँ लाल पत्थर से निर्मित है। इन हवेलियों में ज्यॉमितीय शैली की नक्काशी है एवं आधार को तराश कर बेल–बूटे, फूल–पत्तियाँ आदि उकेरे गये हैं। इनकी सजावट में मुगल, किशनगढ़ एवं यूरोपीय चित्रशैली का प्रयोग किया गया है।

शेखावाटी की हवेलियाँ अपने भित्तिचित्रों के लिए विख्यात हैं। शेखावाटी की हवेलियाँ स्वर्णनगरी के रूप में विख्यात हैं। नवलगढ़ (झुंझुनूं) में सौ से ज्यादा हवेलियाँ अपनी शिल्प सौन्दर्य बिखेरे हुये हैं। यहाँ की हवेलियों में रूप निवास, भगत, जालान, पोद्दार और भगेरियाँ की हवेलियाँ प्रसिद्ध हैं। बिसाऊ (झुंझुनूं) में नाथूराम पोद्दार की हवेली, सेठ जयदयाल केठिया की तथा सीताराम सिंगतिया की हवेली प्रसिद्ध है। झुंझुनूं में टीबड़ेवाला की हवेली तथा ईसरदास मोदी की हवेली अपने शिल्प वैभव के कारण अलग ही छवि लिए हुए हैं। डूंडलोद (झुंझुनूं) में सेठ लालचन्द गोयनका, मुकुन्दगढ़ (झुंझुनूं) में सेठ राधाकृष्ण एवं केसरदेव कानेड़िया की हवेलियाँ, चिड़ावा (झुंझुनूं) में बागड़िया की हवेली, महनसर (झुंझुनूं) की सोने–चाँदी की हवेली, श्रीमाधोपुर (सीकर) में पंसारी की हवेली प्रसिद्ध है। झुंझुनूं जिले की ये ऊँची–ऊँची हवेलियाँ बलुआ पत्थर, ईंट, जिप्सम एवं चूना, काष्ठ तथा ढलवाँ धातु के समन्वय से निर्मित अपने अन्दर भित्ति चित्रों की छटा लिये हुए हैं।

सीकर में गौरीलाल बियाणी की हवेली, रामगढ़ (सीकर) में ताराचन्द रूइया की हवेली समकालीन भित्तिचित्रों के कारण प्रसिद्ध है। फतहपुर (सीकर) में नन्दलाल देवड़ा, कन्हैयालाल गोयनका की हवेलियाँ भी भित्तिचित्रों के कारण प्रसिद्ध है। चूरू की हवेलियों में मालजी का कमरा, रामनिवास गोयनका की हवेली, मंत्रियों की हवेली इत्यादि प्रसिद्ध है। खींचन (जोधपुर) में लाल पत्थरों की गोलेछा एवं टाटिया परिवारों की हवेलियाँ भी कलात्मक स्वरूप लिए हुए है।

जोधपुर में बड़े मियां की हवेली, पोकरण की हवेली, राखी हवेली, टोंक की सुनहरी कोठी, उदयपुर में बागौर की हवेली, जयपुर का हवामहल, नाटाणियों की हवेली, रत्नाकार पुण्डरीक की हवेली, पुरोहित प्रतापनारायण जी की हवेली इत्यादि हवेली स्थापत्य के विभिन्न रूप हैं।

राजस्थान में मध्यकाल के वैष्णव मंदिर भी हवेलियों जैसे ही बनाये गये हैं। इनमें नागौर का बंशीवाले का मंदिर, जोधपुर का रणछोड़जी का मंदिर, घनश्याम जी का मंदिर, जयपुर का कनक वृंदावन आदि प्रमुख हैं। देशी–विदशी पर्यटकों को लुभानें तथा राजस्थानी स्थापत्य कला को संरक्षण देने के लिए वर्तमान में अनेक हवेलियों का जीर्णोद्धार किया जा रहा है।

जल स्थापत्य

राजस्थान की पहचान मरुधरा के रूप में की जाती है। इसके बावजूद भी यहाँ जल स्थापत्य का विकास हुआ। कुँए, कुंड, बावडियाँ, टांके यहाँ के जल स्थापत्य की पहचान है। इनका इतिहास और सौन्दर्य अनूठा है। जल की महत्ता तो विश्वभर में स्वीकार की जाती है परन्तु यहाँ रेगिस्तानी प्रदेश होने के कारण प्यासे को पानी पिलाना पुण्य का कार्य माना जाता है।

कुआँ राजस्थान में उपयोगी जलस्त्रोत है। इसके निर्माण में तकनीकी जटिलताएँ नहीं होती है। शेखावाटी के रेतीले क्षेत्र में इन कुँओं को खूब सजाया जाता है तथा बहुरंगी चित्रकारी की जाती है। कुआँ खुदवाने में समाज के मध्यम वर्ग का सहयोग रहा है। बांदीकुई का नाम किसी बांदी अर्थात् दासी द्वारा बनवाये कुएँ के नाम पर पड़ा है। बाड़मेर जिले में बाटाडू गाँव में आधुनिक पाषाण कला से निर्मित संगमरमर का कुआँ दर्शनीय है।

टांके जल स्थापत्य के महत्वपूर्ण कारक है। इनका स्त्रोत बरसाती पानी होता है। टांके (होज) पक्के होते थे, इनमें बारिश का पानी नहरों के माध्यम से इकट्ठा कर लिया जाता था। टांके निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार के होते थे। टांकों के अच्छे उदाहरण किलों में मिलते हैं, जिनमें जयपुर का जयगढ़ किला प्रमुख है। ये टांके मध्यकालीन सिविल इंजिनियरिंग के अच्छे प्रमाण हैं।

राजस्थान के जन–जीवन में **बावड़ियों** का बहुत महत्व रहा है। इनके निर्माण कार्य में उपयोगिता के साथ–साथ सौन्दर्य का भी ध्यान रखा जाता था। इस कारण इनके निर्माण में व्यय भी अधिक होता था। राजपरिवार के सदस्य मुख्यतः रानियाँ, राजमाताएँ, श्रेष्ठी वर्ग इत्यादि इन्हें बनाने में धन खर्च करते थे। इनके निर्माण संबंधी सूचनाएँ भी शिलालेखों पर खुदवाई जाती थी, जिनसे निर्माताओं और कारीगरों की जानकारी मिलती है। टोंक के पास नगर के अवशेषों से मिले एक लेख में बावड़ी निर्माण में भीनमाल के कुशल शिल्पियों का उल्लेख हुआ है।

दौसा जिले में बांदीकुई के निकट बनी आभानेरी की चांद बावड़ी संभवतया प्रदेश की सबसे कलात्मक बावड़ी है। मूर्तियों से सजी आभानेरी की इस बावड़ी के निर्माता का नाम अज्ञात है, किंतु लोक प्रचलित है कि किसी चांद नामक राजा ने इसे बनवाया था। जोधपुर महाराजा गजसिंह की मुस्लिम पासवान अनारा बेगम ने जोधपुर में एक बावड़ी बनवाई था, जो आज भी विद्यमान है। मेवाड़ महाराणा राजसिंह (1652–1680) की पत्नी रानी रामरसदे ने उदयपुर में त्रिमुखी बावड़ी का निर्माण करवाया था। इस बावड़ी में लगी प्रशस्ति में बप्पा रावल से लेकर राजसिंह तक के मेवाड़ के शासकों की वंशावली तथा कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ दी

गई है। डूँगरपुर के पास स्थित प्रसिद्ध नौलखा बावड़ी का निर्माण महारावल आसकरण की पत्नी प्रीमल देवी ने करवाया था। बूँदी में स्थित रानीजी की बावड़ी उपयोगिता के साथ ही कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें सुन्दर चित्र बने हुये हैं तथा देवी देवताओं की मूर्तियाँ लगी हुई है। इस बावड़ी का निर्माण बूँदी के शासक अनिरूद्ध सिंह की पत्नी नाथावत ने 1699 में करवाया था। मेवाड़ महाराणा रायमल की पत्नी श्रृंगारदेवी ने घोसुण्डी नामक गाँव (चित्तौड़) में एक बावड़ी बनवाई थी, जो कारीगरी का श्रेष्ठ नमूना है।

मूर्तिशिल्प

राजस्थान में मूर्तिशिल्प का इतिहास आज से लगभग 4500 वर्ष पुराना है। कालीबंगा से प्राप्त **हड़प्पाकालीन सांस्कृतिक पुरासामग्री** में मिट्टी तथा धातु की लघु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कालान्तर में दूसरी शताब्दी ई॰पू॰ से कई **शुंगकालीन मूर्तियाँ** नगर (टोंक) एवं रैढ़ (टोंक) से मिली हैं, जो लाल मिट्टी की पकाई हुई हैं। नोह (भरतपुर) से प्राप्त इस युग की यक्ष–यक्षी की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। **ब्रजमण्डल** के सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र में होने के कारण प्रारम्भिक मूर्तिकला के उद्भव व विकास में पूर्वी राजस्थान (भरतपुर क्षेत्र) ने विशिष्ट भूमिका निभायी। नोह में जाखबाबा की विशालकाय प्रतिमा शुंगकालीन कला का प्रतिनिधित्व करती है तथा यह चतुर्मुख प्रतिमा राजस्थान की भारतीय मूर्ति विज्ञान को अनुपम देन है। इस युग की यक्ष–यक्षी की मूर्तियाँ भरतपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

प्राचीन काल के शैव मूर्तिशिल्प में भी राजस्थान की अनुपम देन है। इस दृष्टि से भरतपुर क्षेत्र की विशेष भूमिका रही है। इस क्षेत्र के चौमा, भंडपुरा, गामड़ी आदि स्थानों से शुंग–कुषाणकालीन शिवलिंग मिले हैं। रंगमहल (हनुमानगढ़) से प्राप्त एकमुखी शिवलिंग की बहुचर्चित मृण्मूर्ति में शिवलिंग के मुख भाग में जटामुकुटधारी शिव को मानवाकृति प्रदान की गई हैं। यह मूर्ति वर्तमान में बीकानेर संग्रहालय में प्रदर्शित है।

बैराठ (जयपुर) प्राचीन काल में राजस्थान में बौद्ध धर्म का सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। यहाँ से प्राप्त मौर्यकालीन बौद्ध अवशेषों से बौद्ध मंदिर, मठ आदि के होने के प्रमाण मिले हैं। भरतपुर क्षेत्र से अनेक रोचक कुषाणकालीन (प्रथम शताब्दी ई0 के आस–पास) बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहीं से कुछ बोधिसत्व मूर्तियाँ भी मिली हैं। बोधिसत्व महात्मा बुद्ध के जीवन की वह अवस्था है, जब वे बुद्धत्व प्राप्त करने के मार्ग में अग्रसर हो रहे थे। बुद्ध की प्रतिमा सदैव ही करूणा, प्रेम और सौहार्द की प्रतीक मानी गई हैं। भरतपुर संग्रहालय में भगवान बुद्ध का कपर्द रूप में मंडित केश (महात्मा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् केश तक मुंडित करा लिए और केवल बालों की एक लट सिर पर रहने दी, इस आशय की मूर्ति को कपर्द की संज्ञा मिली) वाला बुद्ध शीर्ष भरतपुर संग्रहालय में उपलब्ध हैं, जो **कुषाणकालीन कला** का उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

इस प्रकार राजस्थान में **गुप्तकाल** से पूर्व मूर्तिकला का विकास हो चुका था। परन्तु गुप्तकाल में लगभग सम्पूर्ण भारत में मूर्तिकला का जो विकसित रूप देखने को मिलता है, वैसा इससे पहले देखने को नहीं मिला। गुप्तकाल की मूर्तियों में मौलिकता है।

इस युग की देव मूर्तियाँ गान्धार कला से मुक्त हैं और उन पर आध्यात्मिक एवं अलौकिक भावों की अभिव्यक्ति है। उनकी मुखाकृति सौम्य है, भाव–भंगिमा में जीवन्तता है, केश रचना में विविधता है तथा मूर्तियों के पीछे कलात्मक प्रभामण्डल दर्शाया गया है। देव परिवार का आशातीत रूप से विस्तार गुप्त युग में देखने को मिलता है। यद्यपि राजस्थान सीधे रूप से गुप्त साम्राज्य का अंग नहीं था, परन्तु कला के क्षेत्र में हो रहे मौलिक परिवर्तनों तथा प्रयोगों का यहाँ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। राजस्थान में इस युग के बचे हुए मन्दिरों में हाड़ौती क्षेत्र का मुकन्दरा तथा चारचौमा का शिव मन्दिर उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त नगरी (चित्तौड़), गंगधार (झालावाड़), मंडोर (जोधपुर) में भव्य देवालय थे, जिनकी मूर्तियाँ अतीत के

वैभव को रेखांकित करती हैं। इटालियन विद्वान टेसीटोरी ने बीकानेर के इर्द–गिर्द गुप्तकलीन मृण्मूर्तियों की अमूल्य ध रोहर की खोज की, वे प्रारम्भिक गुप्तकालीन मूर्तिकला की साक्ष्य हैं। वर्तमान में ये बीकानेर संग्रहालय की धरोहर हैं। ये मृण्मूर्तियाँ पौराणिक देवी–देवताओं के साथ ही, जनजीवन की अनेक झांकियाँ प्रस्तुत करती हैं।

गुप्तकाल की शैव धर्म से सम्बन्धित राजस्थान की शैव मूर्तियाँ भी कम रोचक नहीं हैं। रंगमहल से प्राप्त एकमुखी शिवलिंग तथा उमा माहेश्वर की मृण्मूर्तियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। लिंग के मुख भाग में त्रिनेत्र एवं जटामुकुटधारी शिव की आकृति प्रदर्शित कर कुशल शिल्पकार ने लिंग तथा पुरुष विग्रह का एक साथ ही सुन्दर समावेश किया है।

प्रस्तर निर्मित अनेक महत्वपूर्ण गुप्तकालीन मूर्तियाँ राजस्थान से प्राप्त हुई हैं। ये सभी विष्णु की हैं तथा विशालकाय हैं। रूपावास (भरतपुर) की चक्रधर द्विभुजी विष्णु तथा सर्पफणा बलराम की विशालकाय प्रतिमाएँ गुप्तकाल की प्रस्तर निर्मित कला की श्रेष्ठताओं से युक्त है। इसके अतिरिक्त भीनमाल (जालौर), हेमावास (पाली) से प्राप्त विष्णु प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं।

राजस्थान में गुप्तकाल से पूर्व की जैन प्रतिमाएँ नहीं मिली हैं। इस दृष्टि से भरतपुर संग्रहालय में प्रदर्शित तथा जमीना से प्राप्त तीर्थंकर आदिनाथ एवं नेमिनाथ की मूर्तियाँ विशेष महत्व की हैं। इन पर गुप्तकालीन कला परम्परा की स्पष्ट छाप है।

गुप्तोत्तर एवं पूर्व मध्यकाल में राजस्थान की मूर्तिकला ने परिपक्वता प्राप्त कर ली थी। देवी–देवताओं आदि की मूर्तियों का आधार गुप्तकालीन माधुर्य तथा कोमलता तो बनी रहीं, परन्तु उनमें शक्ति, शौर्य और भावुकता का सम्पुट जोड़ा गया। इस युग में देवी–देवताओं में विश्वास बढ़ने से उनका कई रूपों में अंकन किया गया। राजस्थान की इस युग की मूर्तियों में अलंकरण की प्रधानता, आकृतियों की बहुलता, देवरूपों की विविधता आदि देखने को मिलती हैं।

गुप्तोत्तर काल में कूसमा (सिरोही) तथा झालरापाटन (झालावाड़) में चन्द्रभागा के तट पर शिव मन्दिर निर्मित हुए, जो आज भी विद्यमान है। चन्द्रभागा का शीतलेश्वर महादेव का मन्दिर राजस्थान का प्राचीनतम तिथियुक्त (689 ई.) मंदिर है। इस युग की मेवाड़ (उदयपुर) तथा वागड़ (डूंगरपुर–बाँसवाड़ा) में अनेक शिव मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः पत्थर की हैं। देव मूर्तियाँ अलंकृत प्रभामण्डल और चौकी सहित हैं। डूँगरपुर संग्रहालय में इनका समृद्ध संग्रह हैं। इस क्षेत्र के तनेसर से प्राप्त मूर्तियाँ राष्ट्रीय संग्रहालय (नई दिल्ली) तथा अमेरिका के संग्रहालयों तक में पहुँच चुकी हैं।

पूर्व मध्यकाल (8वीं से 13वीं शताब्दी) में मूर्तिकला अपने विकास की क्रमिक यात्रा करते हुए चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई। इस युग में पूरे राजपूताना में मन्दिरों का जाल बिछा। राजपूताना में आज भी इस युग की कीर्ति का बखान करने वाले अनेक मन्दिर इसके प्रमाण हैं। इस युग की विरासत में मिली कला पराम्पराओं ने आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं विकास ही नहीं किया, वरन् देवी–देवताओं के विभिन्न स्वरूपों की शास्त्रानुसार परिकल्पना कर उन्हें मूर्तियों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। मंदिर के बाह्य तथा आंतरिक सम्भाग देव मूर्तियों से ही नहीं, वरन् पौराणिक आख्यानों, सुर–सुन्दरियों, प्रणयलीन मूर्तियों तथा जन–जीवन की झांकी से परिपूर्ण हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल की मूर्तियाँ पूर्ववर्ती प्रतिमाओं की अनुकृति मात्र नहीं हैं, वरन् अपने युग की धार्मिक चेतना एवं भाव–भूमि की वास्तविक प्रतिबिम्ब है। इस युग की धातु मूर्तियों ने मूर्तिकला को नये आयाम प्रदान कर कला का इतिहास रच दिया।

मारवाड़ में ओसियां, बाड़मेर में किराडू, नागौर में गोठ–मांगलोद, सीकर में हर्षनाथ, कोटा में कंसुआ, बांसवाड़ा में अर्थूणा, डूंगरपुर में देव सोमनाथ, झालवाड़ में झालरापाटन,

आबू पर्वत में देलवाड़ा, पाली में केकीन्द, भीलवाड़ा में बिजौलिया एवं मेनाल आदि ऐसे स्थल हैं, जहाँ के प्रसिद्ध मंदिरों में ऐतिहासिक, भव्य एवं कलात्मक मूर्तियाँ हैं। ये मन्दिर मूर्तिकला की खान हैं।

धार्मिक समभाव तथा सौहार्द राजस्थान की मध्ययुगीन कला का प्रमुख स्वर है। विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य समन्वय यहाँ की विशिष्टता है। मन्दिर और मूर्तिकला इसके साक्ष्य हैं। ओसियां में वैष्णव, शैव, देवी तथा जैन मन्दिर साथ–साथ हैं। वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों की उदारता तथा सहिष्णुता के परिणामस्वरूप विष्णु तथा शिव के संयुक्त रूप हरिहर लोकप्रिय बने। शिव अपनी शक्ति से संपृक्त हो अर्द्धनारीश्वर बन गये। सूर्य तथा विष्णु का सयुक्त रूप सूर्यनारायण के रूप में अवतरित हुआ। धार्मिक सम्भाव के फलस्वरूप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश को समान धरातल पर कल्पित किया तथा उनमें कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। लोद्रवा (जैसलमेर), बाड़ौली (चित्तौड़), झालरापाटन (झालावाड़) तथा कटारा (भरतपुर) में त्रिदेवों का अंकन हुआ है। ये मध्यकालीन मूर्तिकला की अनुपम निधियाँ हैं।

पूर्व मध्यकाल में गुर्जर–प्रतिहार शासक सभी धर्मों के प्रति उदार थे। स्वयं वैष्णव धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होंने जैन धर्म को प्रश्रय दे रखा था। यही कारण रहा कि इस युग में जैन धर्म फला–फूला। अनेक सुन्दर जैन मन्दिरों का निर्माण तथा तीर्थंकरों की मूर्तियों का बहुतायत में मिलना इसका प्रमाण है। नाडोल (पाली), ओसियां (जोधपुर), देलवाड़ा (सिरोही), रणकपुर (पाली), झालरापाटन (झालावाड़), केशवरायपाठन (बूँदी), लाडनूं (नागौर), पल्लू (गंगानगर) आदि स्थलों में जैन देव प्रतिमाएं स्थापित हैं। ओसियां के सच्चिया माता मन्दिर के प्रांगण में स्थित प्रतिहारकालीन सूर्य मंदिर में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अंकन धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। देलवाड़ा के विमलवसही तथा लूणवसही मन्दिरों में कृष्णलीला का अंकन इसी भावना का सूचक है। इसी प्रकार हिन्दू प्रतिमाओं में सरस्वती का जो महत्व हैं, वही वाग्देवी सरस्वती का जैन सम्प्रदाय में है। पल्लू, लाडनूं, नाडोल तथा अर्थूणा की जैन सरस्वती प्रतिमाएँ राजस्थान की मध्यकालीन कला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

राजस्थान में 15 वीं शताब्दी से **सांस्कृतिक पुनरुत्थान** के युग की शुरुआत मानी जा सकती है। मेवाड़ में महाराणा कुम्भा का उदय सांस्कृतिक इतिहास की बड़ी घटना है। कुम्भा ने कुम्भलगढ़, चित्तौड़गढ़ और अचलगढ़ में कुम्भस्वामी नामक विष्णु मन्दिर बनवाये। कुम्भा द्वारा चित्तौड़गढ़ में निर्मित नौ मंजिला प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ (जिसे विजय स्तम्भ के रूप में अधिक जाना जाता है) को भारतीय मूर्तिकला का शब्दकोश कहा जाता है। इतिहासकार गोपीनाथ शर्मा ने ठीक ही लिखा है, "जीवन के व्यावहासिक पक्ष को व्यक्त करने वाला यह स्तम्भ लोक जीवन का रंगमंच हैं।"

16 वीं–17वीं शताब्दियों में राजपूत एवं मुगलों के मध्य जिस मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का श्रीगणेश हुआ, उसने मंदिर व उसकी मूर्तिकला को प्रभावित किया। अकबर के शासन काल में आमेर नरेश महाराजा मानसिंह ने वृंदावन (मथुरा) में गोविन्ददेव जी का मन्दिर बनवाया, जो मुगल साम्राज्य में बना सर्वोत्कृष्ट और भव्य देवालय है। उसकी रानी कंकावती ने अपने दिवंगत पुत्र जगतसिंह की पुण्य स्मृति में आमेर में जगतशिरोमणि का भव्य वैष्णव मन्दिर बनवाया। मानसिंह ने बंगाल से पालयुगीन शिलादेवी की मूर्ति लाकर आमेर में प्रतिष्ठित करवाई। उदयपुर में 17वीं शताब्दी का निर्मित जगदीश मन्दिर एक अन्य महत्वपूर्ण वैष्णव मन्दिर है। जगदीश मन्दिर की मुख्य प्रतिमा भगवान जगदीश की काले पत्थर से निर्मित 5 फीट ऊँची प्रतिमा है, जिसके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पदम् सुप्रतिष्ठित है। इस मंदिर के गर्भग्रह के सामने गरूड़ की विशाल प्रतिमा है। लगभग इसी काल की वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित मूर्तियाँ नाथद्वारा में श्रीनाथ जी, कांकरोली में द्वारिकाधीश, कोटा में मथुरेश जी, जयपुर में गोविन्द देव जी तथा बीकानेर में रत्नबिहारी की हैं।

इस प्रकार राजस्थान में मूर्तिकला की एक समृद्ध परम्परा रही। राजनीतिक उतार–चढ़ाव के बावजूद भी राजस्थान में मन्दिर निर्माण होता रहा और उनमें मूर्तियाँ

स्थापित होती रहीं। मध्यकालीन मूर्तियों में जीवन्तता, सौन्दर्य, अलंकारिता, कलात्मकता, गतिशीलता एवं समन्वयवादिता के दिग्दर्शन होते हैं।

राजस्थानी चित्रशैलियाँ

राजस्थानी चित्रशैली का पहला वैज्ञानिक विभाजन आनन्द कुमार स्वामी ने किया था। उन्होंने 1916 में 'राजपूत पेंटिंग' नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने राजपूत पेंटिंग में पहाड़ी चित्रशैली को भी शामिल किया। परन्तु अब व्यवहार में राजपूत शैली के अन्तर्गत केवल राजस्थान की चित्रकला को ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः राजस्थानी चित्रकला से तात्पर्य उस चित्रकला से है, जो इस प्रान्त की धरोहर है और पूर्व में राजपूताना में प्रचलित थी।

राजस्थान चित्रशैली का क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध है। उसकी समृद्धि के अनेक केन्द्र हैं। यह राजस्थान के व्यापक भू–भाग में फैली हुई है। राजस्थानी चित्रकला की जन्मभूमि मेदपाट (मेवाड़) है, जिसने अजन्ता चित्रण परम्परा को आगे बढ़ाया। राजस्थानी चित्रकला की प्रारम्भिक परम्परा के अनेक सचित्र ग्रंथ, लघु चित्र एवं भित्ति चित्र उपलब्ध होते हैं, जो उसके उद्भव को रेखांकित करने में सहायक हैं।

राजस्थानी चित्रकला पर प्रारम्भ में जैन शैली, गुजरात शैली और अपभ्रंश शैली का प्रभाव बना रहा, किन्तु बाद में राजस्थान की चित्रशैली मुगल काल से समन्वय स्थापित कर परिमार्जित होने लगी। सत्रहवीं शताब्दी से मुगल साम्राज्य के प्रसार और राजपूतों के साथ बढ़ते राजनीतिक और वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप राजपूत चित्रकला पर मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। कतिपय विद्वान 17वीं शताब्दी और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल को राजस्थानी चित्रकला का स्वर्णयुग मानते हैं। आगे चलकर अंग्रेजों के बढ़ते राजनीतिक प्रभाव एवं लड़खड़ाती आर्थिक दशा से राजस्थानी चित्रकला को आघात लगा। फिर भी, कला किसी न किसी रूप में जीवित रही।

राजस्थानी चित्रशैलियों का वर्गीकरण

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक आधार पर राजस्थानी चित्रकला को हम चार शैलियों (स्कूल) में विभक्त कर सकते हैं, एक शैली में एक से अधिक उपशैलियाँ हैं – जैसा कि आगे दर्शाया गया है –

(1) **मेवाड़ शैली** – चावंड, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़ आदि।

(2) **मारवाड़ शैली –** जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़ आदि।

(3) **हाड़ौती शैली –** बूँदी, कोटा आदि।

(4) **ढूँढाड़ शैली –** आम्बेर, जयपुर, अलवर, उणियारा, शेखावटी आदि।

विभिन्न शैलियों एवं उपशैलियों में परिपोषित राजस्थानी चित्रकला निश्चय ही भारतीय चित्रकला में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अन्य शैलियों से प्रभावित होने के उपरान्त भी राजस्थानी चित्रकला मौलिक है।

विशेषताऐं

(1) लोक जीवन का सान्निध्य, भाव प्रवणता का प्राचुर्य, विषय–वस्तु का वैविध्य, वर्ण वैविध्य, प्रकृति परिवेश देश काल के अनुरूप आदि विशेषताओं के आधार पर इसकी अपनी पहचान है।

(2) धार्मिक और सांस्कृतिक स्थलों में पोषित चित्रकला में लोक जीवन की भावनाओं का बाहुल्य, भक्ति और श्रृंगार का सजीव चित्रण तथा चटकीले, चमकदार और दीप्तियुक्त रंगों का संयोजन विशेष रूप से देखा जा सकता है।

(3) राजस्थान की चित्रकला यहाँ के महलों, किलों, मंदिरों और हवेलियों में अधिक दिखाई देती है।

(4) राजस्थानी चित्रकारों ने विभिन्न ऋतुओं का श्रृंगारिक

चित्रण कर उनका मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का अंकन किया है।

(5) मुगल काल से प्रभावित राजस्थानी चित्रकला में राजकीय तड़क–भड़क, विलासिता, अन्तःपुर के दृश्य एवं पतले वस्त्रों का प्रदर्शन विशेष रूप से देखने को मिलता है।

(6) चित्र संयोजन में समग्रता के दर्शन होते हैं। चित्र में अंकित सभी वस्तुएँ विषय से सम्बन्धित रहती हैं और उसका अनिवार्य महत्त्व रहता है। इस प्रकार इन चित्रों में विषय–वस्तु एवं वातावरण का सन्तुलन बना रहता है। मुख्य आकृति एवं पृष्ठभूमि की समान महत्ता रहती है।

(7) राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति का मानवीकरण देखने को मिलता है। कलाकारों ने प्रकृति को जड़ न मानकर मानवीय सुख–दुःख से रागात्मक सम्बन्ध रखने वाली चेतन सत्ता माना है। चित्र में जो भाव नायक के मन में रहता है, उसी के अनुरूप प्रकृति को भी प्रतिबिम्बित किया गया है।

(8) मध्यकालीन राजस्थानी चित्रकला का कलेवर प्राकृतिक सौन्दर्य के आँचल में रहने के कारण अधिक मनोरम हो गया है।

(9) मुगल दरबार की अपेक्षा राजस्थान के चित्रकारों को अधिक स्वतन्त्रता थी। यही कारण था कि राजस्थानी चित्रकला में आम जन जीवन तथा लोक विश्वासों को अधिक अभिव्यक्ति मिली।

(10) नारी सौन्दर्य को चित्रित करने में राजस्थानी चित्रशैली के कलाकारों ने विशेष सजगता दिखाई है।

मेवाड़ शैली

राजस्थानी चित्रशैली में मेवाड़ शैली के अन्तर्गत पोथी ग्रंथों का अधिक चित्रण हुआ है। प्रारम्भिक चित्रित नमूनों में श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णी, सुपार्श्वनाथचरितम् हैं। महाराणा कुम्भा के समय कला की उल्लेखनीय प्रगति हुई। महाराणा प्रताप के समय छप्पन की पहाड़ियों में स्थित राजधानी चावण्ड में भी चित्रकला का विकास हुआ। इस काल की प्रसिद्ध कृति ढोलामारू (1592 ई.) है, जो राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में सुरक्षित है। महाराणा अमरसिंह के समय का 1605 ई. में चित्रित 'रागमाला' मेवाड़ शैली का प्रमुख ग्रंथ है। इन चित्रों को निसारदीन नामक चित्रकार ने चित्रित किया। इन चित्रों में भारत की पन्द्रहवीं शताब्दी तक विकसित होने वाली पश्चिमी चित्रांकन शैली के अवशेषों के दर्शन होते हैं। चित्रकला की दृष्टि से महाराणा जगतसिंह प्रथम का काल स्वर्णयुग कहलाता है। इस समय साहबदीन कलाकार ने महाराणाओं के व्यक्ति चित्र बनाये। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मेवाड़ शैली में बड़ा निखार आया। जगतसिंह प्रथम के समय राजमहल में 'चितेरों की ओवरी' नाम से कला विद्यालय स्थापित किया गया। इसे 'तस्वीरां रो कारखानों' नाम से भी पुकारा जाता था। मेवाड़ शैली राजस्थानी चित्रकला की मूल शैली रही है मेवाड़ शैली में शिकार के दृश्यों में त्रिआयामी प्रभाव दर्शाया गया है।

नाथद्वारा शैली में श्रीनाथजी आकर्षण के प्रमुख केन्द्र हैं। अतः यहाँ श्रीनाथजी की विभिन्न झांकियों के चित्र विशेष रूप से बनाये गये हैं। श्रीनाथजी को यहाँ श्रीकृष्ण का प्रतीक मानकर पूजा की जाती है। इसी कारण विविध कृष्ण लीलाओं को चित्रों में अंकित करने की प्रथा यहाँ प्रचलित हुई है। मेवाड़ के अन्तर्गत नाथद्वारा में पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की भारत प्रसिद्ध प्रमुख पीठ है, जो श्रीनाथजी की भक्ति का प्रमुख केन्द्र होने के कारण मेवाड़ की चित्र परम्परा में नया इतिहास जोड़ता है। श्रीनाथजी के स्वरूप के पीछे बड़े आकार के कपड़े पर जो पर्दे बनाये जाते हैं, उन्हें पिछवाई कहते हैं, जो नाथद्वारा शैली की मौलिक देन है। वर्तमान में इस शैली में श्रीनाथ जी के प्राकट्य एवं लीलाओं से सम्बन्धित असंख्य चित्र व्यावसायिक दृष्टि से कागज और कपड़े पर बनने लगे हैं। इस शैली की पृष्ठभूमि में सघन वनस्पति दर्शायी गयी है, जिसमें केले के वृक्ष की

प्रधानता है। अठारहवीं शताब्दी में बने नाथद्वारा शैली के चित्रों में अधिक कलात्मकता है, परन्तु बाद के चित्रों में व्यावसायिकता का अधिक पुट आ गया है।

जब महाराणा जयसिंह के राज्यकाल में रावत द्वारिका दास चूँडावत ने देवगढ़ ठिकाना 1680 ई. में स्थापित किया, तदुपरान्त, **देवगढ़ शैली** का जन्म हुआ। यहाँ के रावत 'सौलहवें उमराव' कहलाते थे, जिन्हें प्रारम्भ से ही चित्रकला में गहरी अभिरुचि थी। इस शैली में शिकार, हाथियों की लड़ाई, राजदरबार का दृश्य, कृष्ण–लीला आदि के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली के भित्ति चित्र 'अजारा की ओबरी' 'मोती महल', आदि में देखने को मिलते हैं। इस शैली को मारवाड़, ढूँढाड़ एवं मेवाड़ की समन्वित शैली के रूप में देखा जाता है। इस शैली में हरे, पीले रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है।

मारवाड़ शैली

मारवाड़ शैली के विषय मूलरूप में अन्य शैलियों से भिन्न हैं। यहाँ मारवाड़ी साहित्य के प्रेमाख्यान पर आधारित चित्रण अधिक हुआ है। ढोलामारू रा दूहा, वेलि क्रिसन रूक्मिणी री, वीरमदे सोनगरा री बात, चन्द्रकुँवर री बात, मृगावती रास, फूलमती री वार्ता, हंसराज बच्छराज चौपाई आदि साहित्यिक कृतियों के चरित्र मारवाड़ चित्रकला के आधार रहे हैं। इस चित्र शैली में प्रेमाख्यानों के नायक–नायिकाओं के भाव–भंगिमाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। बारहमासा चित्रण तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश में नायक–नायिका के मनोभावों का सफल उद्‌घाटन करते हैं। मारवाड़ शैली में लाल, पीले रंग का बाहुल्य है। हाशिये में भी पीले रंग का प्रयोग किया गया है। वीरजी चित्रकार द्वारा 1623 ई. में निर्मित 'रागमाला चित्रावली' का ऐतिहासिक महत्त्व है। जोधपुर शैली में एक मोड़ महाराजा जसवन्तसिंह के समय में आया। कृष्ण चरित्र की विविधता और मुगल शैली का प्रभाव इस समय के चित्रों में दृष्टव्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में मारवाड़ नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित रहा। अतः राजा मानसिंह के समय चित्रकला मठों में परिपोषित हुई।

मारवाड़ शैली के अन्तर्गत **बीकानेर शैली** का प्रादुर्भाव सोलहवीं शताब्दी के अन्त से माना जाता है। बीकानेर शैली के उद्‌भव का श्रेय यहाँ के उस्ताओं को दिया जाता है। निरन्तर अभ्यास व कला–कौशल के कारण इन मुस्लिम कलाकारों को उस्ताद कहकर सम्बोधित किया जाता था। कालान्तर में इन उस्तादों को उस्ता कहा जाने लगा। इन्होंने 'उस्ता कला' को जन्म दिया। ऊँट की खाल पर सोने का चित्रण 'उस्ता कला' कहलाती है। यह बीकानेर कला की एक अनौखी विशेषता है। अकबर ने स्वयं अपने दरबार में इन उस्ता कलाकारों को सम्मानजनक स्थान प्रदान किया। महाराजा अनूपसिंह के काल में विशुद्ध बीकानेर शैली के दिग्दर्शन होते हैं। इस काल में रसिक प्रिया, बारहमासा, भागवत पुराण से सम्बन्धित चित्र तैयार हुए। बीकानेर शैली में मुगल शैली एवं दक्कन शैली का समन्वय है।

राजस्थानी चित्रकला में **किशनगढ़ शैली** का विशिष्ट स्थान है। इस शैली पर वल्लभ सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रभाव है। सावन्तसिंह उर्फ नागरीदास के शासनकाल से इस शैली को स्वतन्त्र स्वरूप प्राप्त हुआ। नागरीदास के काव्य प्रेम, गायन, बणी ठणी के संगीत प्रेम और कलाकार मोरध्वज निहालचंद के चित्रांकन ने किशनगढ़ की कला को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस शैली का प्रमुख चित्र बणी –ठणी हैं। नारी सौन्दर्य इस शैली की प्रमुख विशेषता है। राधा– कृष्ण की प्रेम लीला इस शैली का लक्षण है। काम और आध्यात्मिक प्रेम ने किशनगढ़ शैली की चित्रकला को जीवनदान दिया।

हाड़ौती शैली

हाड़ौती शैली के अन्तर्गत **बूँदी शैली** में पशु–पक्षियों के चित्रण की बहुलता है। यहाँ के शासक राव छत्रसाल ने प्रसिद्ध रंगमहल बनवाया, जो सुन्दर भितिचित्रों से सुसज्जित है। समय–समय पर बूँदी शैली में ग्रंथ चित्रण एवं लघु चित्रों के माध्यम से इतना चित्रण हुआ कि आज संसार भर के संग्रहालयों में बूँदी शैली के चित्रों की उपस्थिति है। यहाँ के

शासक भावसिंह की कलाप्रियता ने संगीत, काव्य और चित्रकला को उत्कृष्टता प्रदान की। सत्रहवीं सदी में बूँदी में उत्कृष्ट चित्र बने। बूँदी शैली के अन्तर्गत राव उम्मेदसिंह का जंगली सूअर का शिकार करते हुए बनाया चित्र (1750 ई.) प्रसिद्ध है। राजा उम्मेदसिंह के काल में बूँदी शैली में मोड़ आया, जिसमें भावनाओं की सहजता एवं प्रकृति की विविधता है। पशु–पक्षियों, सतरंगे बादलों तथा जलाशयों का इसमें चित्रण बहुलता से हुआ। बूँदी शैली मेवाड़ शैली से प्रभावित रही है। राग रागिनी, नायिका भेद, ऋतु वर्णन, बारहमासा, कृष्णलीला दरबार, शिकार, हाथियों की लड़ाई, उत्सव अंकन आदि बूँदी शैली के चित्राधार रहे हैं।

कोटा शैली में स्त्री आकृतियों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर हुआ है। बूँदी कलम की ही शाखा कोटा शैली का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने का श्रेय राजा रामसिंह को है। रामसिंह के पश्चात् महारावल भीमसिंह ने कोटा राज्य में कृष्ण भक्ति को विशेष महत्त्व दिया, जिसके फलस्वरूप कोटा की चित्रकला में वल्लभ सम्प्रदाय का पूर्ण प्रभाव अंकित हुआ। कोटा शैली में राजा उम्मेदसिंह के शासनकाल में एक मोड़ आया। उनके शिकार प्रेम के कारण कोटा शैली में इस समय शिकार का बहुरंगी वैविध्यपूर्ण चित्रण हुआ, जो कोटा शैली का प्रतीक बन गया। 1768 ई. में डालू नाम के चित्रकार द्वारा चित्रित रागमाला सैट कोटा कलम का सर्वाधिक बड़ा रागमाला सैट है।

ढूँढाड़ शैली

ढूँढाड़ शैली में मुगल प्रभाव सर्वाधिक है। रज्मनामा (महाभारत का फारसी अनुवाद) की प्रति अकबर के लिए इसी शैली के चित्रकारों ने तैयार की थी। इसमें 169 बड़े आकार के चित्र हैं। आमेर शैली के प्रारम्भिक चित्रित ग्रंथों में यशोधरा चरित्र है। मानसिंह के पश्चात् मिर्जा राजा जयसिंह ने आमेर चित्रशैली के विकास में योगदान दिया। इस समय बिहारी सतसई पर आधारित बहुसंख्य चित्र बने। आमेर शैली के चित्र रसिकप्रिया और कृष्ण–रूक्मणी नामक चित्रित ग्रंथों में देखने को मिलते हैं, जिनकी रचना मिर्जा राजा जयसिंह ने अपनी रानी चन्द्रावती के लिए करवाई थी। इस शैली की समृद्ध परम्परा भित्तिचित्रों के रूप में उपलब्ध है।

जयपुर शैली का विकास महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय के काल से शुरू होता हैं, जब 1727 ई. में जयपुर की स्थापना हुई। महलों और हवेलियों के निर्माण के साथ भित्ति चित्रण जयपुर की विशेषता बन गयी। सवाई जयसिंह के उत्तराधिकारी ईश्वरीसिंह के समय साहिबराम नामक प्रतिभाशाली चितेरा था, जिसने आदमकद चित्र बनाकर चित्रकला की नयी परम्परा डाली। ईश्वरीसिंह के पश्चात् सवाई माधोसिंह प्रथम के समय गलता के मन्दिरों, सिसोदिया रानी के महल, चन्द्रमहल, पुण्डरीक की हवेली में कलात्मक भित्ति चित्रण हुआ। इसके पश्चात् सवाई प्रतापसिंह के समय चित्रकला की विशेष उन्नति हुई। इस समय राधाकृष्ण की लीलाओं, नायिका भेद, रागरागिनी, बारहमासा आदि का चित्रण प्रमुखतः हुआ। बड़े–बड़े पोट्रेट (आदमकद या व्यक्ति चित्र) एवं भित्ति चित्रण की परम्परा जयपुर शैली की विशिष्ट देन है। उद्यान चित्रण में जयपुर के कलाकार दक्ष थे। जयपुर चित्रों में हाथियों की विविधता पायी जाती है।

ढूँढाड़ शैली के अन्तर्गत **अलवर शैली** के विकास में राव राजा प्रतापसिंह, बख्तावरसिंह एवं विनयसिंह ने विशेष योगदान दिया। अलवर की चित्रकला के उदय में विनयसिंह का वही योगदान है जो मुगल चित्रकला में अकबर का है। उन्होंने राज्य के कला संग्रह को वैभवशाली बनाया। इनके समय प्रमुख चित्रकार बलदेव था। विनयसिंह ने शेखसादी की गुलिस्ताँ की पाण्डुलिपि को बलदेव से चित्रित करवाया। अलवर शैली में ईरानी, मुगल और जयपुर शैली का उचित समन्वय है। वेश्याओं के चित्र केवल अलवर शैली में ही बने हैं। महाराव शिवदानसिंह के समय कामशास्त्र के आधार पर चित्रण हुआ। मूलचंद नामक चित्रकार हाथीदाँत पर चित्र बनाने में प्रवीण था। चिकने एवं उज्ज्वल रंगों का प्रयोग इस शैली में हुआ है। राजस्थान की विभिन्न शैलियों

के मध्य अपनी कमनीय विशेषताओं के कारण अलवर शैली के लघुचित्रण की अपनी पहचान है।

उणियारा एवं शेखावाटी चित्र शैली परम्परा ढूँढाड़ चित्रशैली की ही शाखाएँ हैं। उणियारा शैली पर जयपुर एवं बूँदी शैली का प्रभाव है। नरूका ठिकाने वंश ने इस शैली के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इस शैली के श्रेष्ठ कलाकार धीमा, मीरबक्स, काशी, रामलखन, भीम आदि हुए।

जयपुर शैली के भित्ति चित्रण का सर्वाधिक प्रभाव **शेखावटी** पर पड़ा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर बीसवीं सदी प्रारम्भ तक शेखावटी के श्रेष्ठीजनों ने बड़ी–बड़ी हवेलियाँ बनाकर इस कला को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय प्रदान किया। नवलगढ़, रामगढ़, फतेहपुर, लक्ष्मणगढ़, मुकुन्दगढ़, मंडावा, बिसाऊ आदि स्थानों का भित्ति चित्रण विशेष दर्शनीय हैं। फतेहपुर स्थित गोयनका की हवेली भित्तिचित्रों की दृष्टि से उल्लेखनीय है। कम्पनी शैली का प्रभाव हवेली चित्रणों में देखने को मिलता है। शेखावटी शैली में तीज–त्योहार, होली–दीपावली के उत्सवों का अंकन, शिकार, महफिल, नायक–नायिका भेद एवं अन्य शृंगारी भावों का अंकन हुआ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1. किलों का सिरमौर किसे कहा गया है ?

   (अ) कुम्भलगढ़ (ब) मेहरानगढ़

   (स) गागरोन (द) चित्तौड़गढ़

2. अबुल फजल ने किस दुर्ग को 'बख्तरबंद' कहा है ?

   (अ) कुम्भलगढ़ (ब) शेरगढ़

   (स) रणथम्भौर (द) तारागढ़ (बूँदी)

3. जल दुर्ग का उदाहरण है –

   (अ) गागरोन (ब) नाहरगढ़

   (स) मेहारानगढ़ (द) लोहागढ़

4. लोहागढ़ कहाँ स्थित है ?

   (अ) अलवर (ब) भरतपुर

   (स) करौली (द) जालौर

5. कैलादेवी का प्रसिद्ध मंदिर किस जिले में स्थित है ?

   (अ) करौली (ब) भरतपुर

   (स) सवाईमाधोपुर (द) राजसमंद

6. जैन धर्म से सम्बन्धित निम्न में से कौन–सा मंदिर है ?

   (अ) जगतशिरोमणि (ब) बाड़ौली

   (स) अर्थूणा (द) रणकपुर

7. किराडू के मन्दिर किस जिले में स्थित है ?

   (अ) प्रतापगढ़ (ब) उदयपुर

   (स) बाड़मेर (द) डूँगरपुर

8. पिछवई चित्रांकन किस शैली की विशेषता है ?

   (अ) किशनगढ़ (ब) बूँदी

   (स) कोटा (द) नाथद्वारा

9. 'बणी–ठणी' किस चित्रशैली से सम्बन्धित है ?

   (अ) किशनगढ़ (ब) कोटा

   (स) मारवाड़ (द) चावण्ड़

10. पटवों की हवेली कहाँ स्थित है ?

   (अ) सीकर (ब) नवलगढ़

   (स) जैसलमेर (द) मुकन्दगढ़

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धान्वन दुर्ग किसे कहते हैं ?
2. वर्तमान में मैग्जीन किस किले को कहा जाता है और

इसे किसने बनवाया था ?

3. कटारगढ़ क्या है ?

4. जैसलमेर किले की कोई दो विशेषताएँ बताइये।

5. महाराणा कुम्भा द्वारा बनवाये गये किसी एक किले का नाम बताइये और वह कहाँ अवस्थित है?

6. किस इमारत को 'भारतीय मूर्तिकला का शब्दकोश' कहा गया है ?

7. ओसियाँ क्यों प्रसिद्ध है ?

8. बूँदी शैली की कोई दो विशेषता बताइये।

9. जैसलमेर की कोई दो हवेलियों के नाम बताइये।

10. रणथम्भौर किले में स्थित गणेश मन्दिर क्यों प्रसिद्ध है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'राजस्थान में दुर्गों का जाल है।' कथन को स्पष्ट कीजिये।

2. चित्तौड़गढ़ दुर्ग की विशेषताएँ बताइये।

3. जूनागढ़ पर एक टिप्पणी लिखिये।

4. राजस्थान के प्रसिद्ध जैन मन्दिरों का परिचय दीजिये।

5. शेखावाटी की हवेलियों के बारे में आप क्या जानते हैं ?

6. नाथद्वारा चित्रशैली की विशेषताएँ बताइये।

7. राजस्थान की चित्रशैलियों का किस तरह वर्गीकरण किया जा सकता है ?

8. 'राजस्थान के मूर्तिकला के सन्दर्भ में 8 वीं से 13 वीं शताब्दी का समय उत्कर्ष का काल था' कथन को स्पष्ट कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजस्थान चित्रकला की विभिन्न शैलियों की विशेषताओं सहित विवेचना कीजिये।

2. राजस्थान के दुर्ग स्थापत्य को उदाहरण सहित समझाइये।

3. राजस्थान के मन्दिर शिल्प का परिचय देते हुए प्रमुख मन्दिरों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

4. राजस्थान के स्थापत्य के सन्दर्भ में जल स्थापत्य एवं हवेली स्थापत्य का विवेचन कीजिये।

□□□